निष्कवच

राजी सेठ

निष्कवच

राजी सेठ

प्रकाशक: नॉटनल

प्रकाशन: सितंबर, 2023

© राजी सेठ

प्रथम संस्करण: 1995

निष्कवच

पिछले दो दशकों में हिन्दी कथा-लेखन के क्षेत्र में अपनी महत्वपूर्ण पहचान बनानेवाली लेखिकाओं में अग्रणी राजी सेठ की नवीनतम औपन्यासिक कृति है 'निष्कवच'।

'निष्कवच' में मूल्यों की डगमगाहट में अपने मूल से उखड़ी युवा पीढ़ी की मानसिकता में से उभरते दो वृत्तांत हैं। यह दो अलग-अलग कथाएँ हैं, पर नहीं भी हैं। दोनों वृत्तान्तों में केंद्रीय पात्रों के निष्कवच यथार्थ के सामने पटक दिये जाने का एक साझा कालगत और परिवेशगत रिश्ता है। यहाँ इनके अपने दर्द हैं, अपने तर्क, ज़िंदगी से निपटने के अपने आवेश निर्देश हैं। कहना न होगा कि इनमें जो असुरक्षा और बेचैनी है वह अब तक अनदेखी रहती आई है, क्योंकि हमारी सोच वयस्क पीढ़ी की संवेदनाओं पर झुकी हुई है। दरअसल उनकी बेख़बर करवटों-तले बहुत से नाज़ुक आवेग पिसते आये हैं।

'निष्कवच' के दोनों वृत्तान्तों के पात्रों का ऐसा जूझना कहीं-न कहीं मूल्यों के संक्रमण की गवाही भी देता है। जिन मान्यताओं से अब तक काम चलता रहा है, अब नहीं चल रहा। एक स्निग्ध सुरक्षित संसार की तलाश पिछले मूल्यों को ध्वस्त ज़रूर

करती है, पर एक नया जुझारू साहस जुटाने के लिए संबद्ध भी होती है। ज़ाहिर है, परिवेश में पनप रहे इन संघर्षों का समाज को तो अभ्यस्त होना ही होना है।....

राजी सेठ की यह नवीनतम कथाकृति अपने पूरे वैचारिक साहस के साथ जीवन और परिवेश के यथार्थ की एक सशक्त एवं सार्थक अभिव्यक्ति है।

राहुल को

सुनती नहीं हो

कितना बोल रहीं

ये भित्तियाँ!

अनुक्रम

वृत्तांत-1	6
वृत्तांत- 2	91

वृत्तांत-1

मेरे लिए सब कुछ वहीं का वहीं खड़ा है।

इस टेबल से लगी खिड़की के पार का दृश्य वैसे का वैसा है। दीठ के विस्तार को बीच में कहीं से टोक देती शिवमन्दिर की गुम्बद और धूप के क्रोध से अवर्ण हो गयी उस पर फहराती पताका। मन्दिर की आड़ में वहीं बँगले। उन पर कुछ और आवेश में झूलती लतरें और बीच में काले अजगर-सी लेटी लम्बी सड़क। आगे चलकर दायें को एकदम नदी का रेतीला पाट आ जाता है इसलिए मैदान की मिट्टी भी चमकती चिलचिलाती रहती है।

सब कुछ वही है। वैसे का वैसा। किसी चौखटे में बँधे चित्र की तरह। एक मैं ही यहाँ नहीं था। कॉलेज हॉस्टल के गलियारों से चलता-चलता प्रतियोगिता परीक्षाओं की तैयारी के लिए इन सबके बीच आन बैठा हूँ।

फिर उसी तरह बैठा हूँ। पहली मंजिल पर उसी खिड़की से लगकर। उसी टेबल पर। उसी लैम्प के प्रकाशवृत्त के नीचे। लगता है काठ की कुरसी पर सीधा बैठा ऊँघता-जागता, पढ़ता-लिखता मैं वहीं चिपका रह गया हूँ।

पर वह? उसके लिए जीवन कैसे दौड़ता-फलाँगता तीन-तीन मंजिलें पार करता गया है। मेरे देखते-ही-देखते वह बच्ची से माँ बन गयी है और एक उगते हुए जीवन का संचालन उसके हाथ में आ गया है।

उसे कैसा लग रहा होगा ? कल्पना करता हूँ। नहीं फलतीं। मातृत्व के साथ जैसे बड़प्पन की गन्ध है वह, उसकी छवि के साथ नहीं चिपकती। इस सारे होने में क्या उसकी भी इच्छा शामिल होगी या यों ही बस। ...शायद उसका बस चला होता तो वह अपने को इस दायित्व के हवाले कभी न करती।

रमण के संसर्ग में धधकते अपने पूरेपन की आभा को लम्बाये रखती। डेढ़ साल। होता ही कितना है डेढ़ साल! उसमें से भी नौ महीने...

"एक पत्र तुम भी उसे लिख देना," कहती हुई माँ अलमारी में से अपने कपड़े लेकर बाहर चली गई हैं और मुझे एक और खूँटे से बाँध गयी हैं।

कागज लेकर बैठता हूँ पर हाथ ही नहीं चलते। क्या लिखना ठीक होगा। यह कि मैं खुश हो रहा हूँ या मुझे बहुत ही अटपटा लग रहा है या कि हम सब, मेरा मतलब है, माँ-पापा बहुत ही खुश हैं। नहीं, नहीं, यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि अब तो तुम सच में बड़ी हो गयी हो। तुम्हें बधाई देता हूँ। मन से।

शब्द खोखले लगते हैं। बजते हुए! उछाह और प्रवाह के बिना। यहाँ से कुछ चलेगा ही नहीं तो पहुँचेगा कैसे! यह व्यायाम व्यर्थ होगा। उसे आशा ही कहाँ होगी कि